

आवाज़ आई—‘रोटी हो गई ?’ उसके पीछे ही पीछे एक व्यक्ति वहाँ कोठरीमें आकर मुझे देखता हुआ सन्न खड़ा रह गया ।

बुआने अपनी अँगोठीकी तरफ देखते हुए कहा—सुनते हो ? इनसे कह दो कि ये जायें । यहाँ क्यों आये हैं ?

व्यक्ति और भी आश्चर्यसे ऊपरसे नीचेतक मुझे देखता हुआ खड़ा रह गया । उस समय ख्याल हुआ कि यहाँ आते वक्त इतना भी मुझे क्यों नहीं सूझा कि टोप-पतलून और टाई न पहनकर चलूँ । उस समय अपने बदनपरके ये कपड़े मुझे बहुत ही कष्टकर हुए । वह व्यक्ति सहमा-सा मुझे देखता रहा और कुछ भी बोल नहीं सका ।

मैंने कहा—बुआ, मैं सचमुच जाऊँ ?

वह चुप रही, कुछ भी उत्तर नहीं दिया ।

मैंने कहा—लो तो मैं जाता हूँ । लेकिन कलसे मुझको कुछ भी खानेको नहीं मिला है और मुझे भूख लग रही है—यह सच्ची बात है ।

यह कहकर मैं मुड़कर चलनेको हो गया ।

बुआने बिना किसी ओर देखे कहा—

“ सुनते नहीं हो ? खड़े क्या हो, जाकर चार पैसेका दही ले आओ । और सुनो, बूरा भी लाना । ”

वह व्यक्ति इसपर बिना कुछ देर लगाये कोठरीके बाहर चला गया ।

मैंने तब बूटके तस्मे खोले और उन एक तरफ चिन कर

रक्खे हुए कपड़ोंके ऊपर बेतकल्लुफीसे जा बैठा । अब मैं बुआके बिल्कुल सामने था । मैंने कहा—बुआ, तुम सच जानना मैं कलका भूखा हूँ ।

बुआने अब आँख उठाकर मेरी ओर देखा । उन आँखोंमें क्या था ? बोलीं—आप यहाँ खाएँगे ?

मैंने कहा—मैं 'आप' ही सही । लेकिन मैं भूखा हूँ । नहीं कैसे खाऊँगा ?

बुआ नीचे देखने लगीं । उन्होंने अँगीठीपरसे तवा उतारा और वे तवेकी रोटीको अँगीठीकी आँचपर सेंकने लगी । रोटी फूल आई । उसको इधर-उधर करके सेंकती रहीं, बोली नहीं । रोटी सेंककर अलग रख दी । उसके बाद तवा अँगीठीपर रख दिया । और फिर—

मुझे मालूम हुआ कि उनकी आँखें हठात् ऊपर उठती नहीं हैं । मेरा जी इसपर बेहद त्रस्त था । चाहता था कि उन्हें जतला दूँ कि मैं प्रमोद हूँ, प्रमोद । बुआ, सुनो तो, देखो तो । मैं वहीका वही प्रमोद हूँ । और तुम भी तो, बुआ वहीकी वही बुआ हो । क्या नहीं—?

मैंने कहा—बुआ !

उन्होंने सुन लिया ।

मैंने कहा—बाबूजी तो चले गये, बुआ । मनमें तुम्हारी याद लेकर गये । बताओ, मेरा अब कौन है ? एक माँ हैं । दूसरीं तुम—

बुआ निस्तब्ध भावसे बैठी ही रहीं । कुछ भी नहीं

बोलीं । मेरे मनमें हुआ कि मैं खुलकर सामने बिछू जाऊँ कि बुआ कुछ कहें तो । क्यों यों मुझे सजा देती हैं ।

मैंने कहा—मैं बी० ए० में पढ़ रहा हूँ, बुआ । अभी यूनिवर्सिटीसे आ रहा हूँ । माँ व्याहकी बात कर रही हैं । सुनती हो न ? माँ इसी साल व्याह करना चाहती हैं । पर मैं नहीं चाहता । बी० ए० पास नहीं करता तब तक मैं कुछ भी ऐसी-वैसी बात नहीं सोचना चाहता । ठीक है, क्यों बुआ ? तुम मत बोलो, लेकिन मैं तुम्हें बताये देता हूँ कि अभी मैं व्याह नहीं करनेका । पर वहाँ अम्माँसे कोई भी मेरी तरफकी बात कहनेवाला नहीं है । वह मुझे दबा लेती हैं । बुआ, मेरे साथ ज़बरदस्ती हुई तो सच कहता हूँ कि मैं तुम्हें ही दोष दूँगा । मैं और कुछ नहीं जानता ।

मैंने देखा कि बुआके हाथ बेलनपर शिथिल, निष्क्रिय पड़ गये हैं और तवेकी रोटी फूलकर अब जलनेकी चैतावनी दे रही है—

इतनेमें द्वारपर आहट आई । वह मानों चौंककर सावधान हुई और चकलेपर पड़ी हुई रोटी यथाविधि बेलने लगीं । उसी समय उस व्यक्तिने आकर दही और बूरा बुआके पास ला रक्खा ।

बुआने कहा—अभी दुकानपर बैठो । सुना ? खानेके लिए थोड़ी देरमें आना ।

व्यक्ति सुनकर मुझे देखता हुआ बाहर चला गया ।

बुआने उस समय आँख उठाकर मुझे देखा । कहा, लो आओ ।

मैंने कहा—पहले बना लो, तब तुम्हारे साथ खाऊँगा ।

बुआने कहा—नहीं, तुम बैठो ।

मैंने कहा—मेरे साथ नहीं खाओगी ?

“ नहीं । ”

“ कब खाओगी ? ”

“ पीछे खाऊँगी । ”

मैंने कहा—पीछे कब खाओगी ? अभी न खाओ ।

“ उनको खिलाकर खाऊँगी । ”

मैं कुछ नहीं बोला । चुपचाप उठा, मोजे खोले, कोट उतारकर बाँसपर टाँग दिया, थाली ली । थाली लेकर क्षणिक सोचता रह गया, कहाँ कैसे बैठूँ ।

“ वहाँसे एक दरी ले लो न । और यहाँ पास डालकर बैठ जाओ । ”

मैंने दरी ली और जहाँ बताया गया था बिछाकर बैठ गया । खाते समय बुआने पूछा—

“ माँ अच्छी हैं ? ”

“ अच्छी हैं । ”

“ यहाँ कहाँ ठहरे हो ? ”

“ स्टेशनपर वेटिंग-रूममें सामान पड़ा है । ”

“ कल ही आये ? ”

“ हाँ, कल ही आया । ”

“ यहाँकी खबर किसने दी ? ”

“ लग गई । ”

“ कत्र जाओगे ? ”

“ जब तुम चलोगी । ”

सुनकर जैसे विजली छू गई हो, चेहरा उनका एकदम फक हो पड़ा । जैसे लहू जम गया हो । निगाह नीचे डाल ली और वह कुछ नहीं बोलीं । मैं भी चुप हो रहा । थोड़ी देर बाद मैंने कहा—चलोगी नहीं ?

बुआने इस बार मानों अत्यंत कठोर स्थिर भावसे मुझे देखते हुए पूछा—कहाँ ?

मैंने कहा—कहाँ क्या ? घर ।

बुआने उसी भावसे मुझे देखते रहकर कहा—माँने कहा है ?

“ मैं तो कह रहा हूँ । ”

यह सुनकर मानों उन्हें धीरज बँधा । उनके चेहरेका कठिन भाव कुछ कम हो आया । बोलीं—पहले शादी तो कर लो, तब घर बनेगा । और उस समय कहने आओगे तब मेरे सुननेका भी वक्त होगा ।

मैंने जोरसे कहा—मेरा घर मेरा नहीं है तो किसका है ?

वह धीर भावसे बिना उत्तर दिये मुझे देखती रहीं ।

मैंने पूछा—तो नहीं चलोगी ?

बुआ इसपर कुछ मुस्करा आई; बोलीं—तुम तो कहते थे वी० ए० में पढता हूँ । पर देखती हूँ, तुमने अब भी कुछ नहीं सीखा है ।

मैंने कहा कि नहीं सीखा तो नहीं सही, लेकिन मैं तुम्हें घर ले चलाँगा ।

बुआने कहा—अच्छा पहले खा तो लो । फिर जो हो करना ।

मैंने कहा—तुम्हें पता है, मैं बीस बरसका अब हो रहा हूँ । बालिंग हूँ । घरका मैं मालिक हूँ । माँ हैं तो मेरी माँ हैं । मैं तुम्हें यहाँ कैसे रहने दूँगा ?

बुआने पूछा—तो तू ज़रूर ले चलेगा ?

“ ज़रूर ले चलेगा । ”

बुआ क्षणिक रुकीं । फिर बोलीं—

“ ज़रूर ले चलेगा, तो सुन । मैं नहीं जाऊँगी, मैं नहीं जा सकती । तुम मुझको नहीं जानते हो । मैं पतिके घरको छोड़कर आ गई हूँ । पति है, पर दूसरे पुरुषके आसरे रह रही हूँ, उसके साथ रह रही हूँ । तुम न जानो, मैं यह जानती हूँ । तुम अपनी आँखे ढँक लो, लेकिन मुझसे अपना यह सारा पातक निगल जानेको नहीं कह सकते । फिर जिनका साथ लेकर पतिको छोड़ आई हूँ, उनको मैं छोड़ दूँ ? उन्होंने मेरे लिए क्या नहीं त्यागा ? उनकी करुणापर मैं बची हूँ । मैं मर सकती थी, लेकिन मैं नहीं मरी । मरनेको अधर्म जानकर ही मैं मरनेसे बच गई । किसके सहारे मैं उस मृत्युके अधर्मसे बची ? जिनके सहारे मैं बची, उन्हींको छोड़ देनेकी मुझसे कहते हो ? मैं नहीं छोड़ सकती । पापिनी हो सकती हूँ, पर उसके ऊपर क्या अकृतज्ञ भी बनें ? नहीं । प्रमोद, तुम सब लोग मुझे मरा हुआ क्यों नहीं मान लेते हो ? क्यों मुझे तंग करते हो ? ”

मैं सुनता रह गया । इस तरहकी बातें मैंने बुआके मुखसे कभी नहीं सुनी थीं । मालूम होता था, ऐसा ही कोई भीतरी बल उनके इस जीवनको थाम भी रहा है, नहीं तो वह हर तरह अथमरी तो हैं ही ।

मैंने खाना खा लिया । बुआ भी खाना बना चुकी थीं । उसी समय अपने गिनतीके वर्तन धो-माँजकर मुझसे उन्होंने कहा—

“ सुनो, अभी ही तो नहीं जा रहे हो न ? ”

“ अभी ही तो नहीं—”

“ तो एक काम करो । बाहर ही दुकान है, वहाँसे उन्हें खानेके लिए भेज दो । तुम इतने पाँच मिनट वहाँ बैठना । फिर यहाँ आराम करके, जाना हो तो, दो पहर बीते जाना । ”

मैंने बाहर आकर उस व्यक्तिको खाना खाने जानेके लिए कह दिया और स्वयं सोचने लगा कि इस कोइलेकी दुकानपर कहाँ बैठूँ । एक टाट है जिसपर पिसा हुआ कोइला बिछा है । उस बिछावनपर मुझसे बैठना नहीं गया । मैं दुकानके आगे होकर टहलने लगा ।

विचित्र मुहल्ला था । वहाँ दिन शायद ही कभी होता हो । दिनमें रात होती थी और रातमें क्या होता होगा, पता नहीं । सटी-सटी कोठरियाँ थीं । वे कोठरियाँ ही दुकानें थीं और रातमें वे ही स्वावगाह । किसीपर सस्ती बिसाइतकी चीजें हैं तो किसीपर बासी साग-भाजी और चुचके फल रखे हैं । कहीं नाई है, कहीं हाथकी मशीन लिये दर्जी बैठा अमरीकन तर्जके

कपड़े सी रहा है । यहाँ आसमान भी एक गली बन जाता है और कालकी गिनती रातोंके हिसाबसे होती है ।

मै बी० ए० का विद्यार्थी पेंटपर सिर्फ कमीज़ और कमीज़पर सिर्फ टाई लगाये उस दुकानके आगे टहलता हुआ बुआकी और उनके चारों ओरकी इस परिस्थितिकी विचित्रता-पर बिना सोचे जाने क्या क्या न सोचता रहा ।

इतनेमें उस व्यक्तिने आकर कहा कि वह आपको बुला रही हैं ।

मै चलने लगा । तब एकाएक लगभग मुझे बाँहसे पकड़कर रोकते हुए उसने कहा—

“ एक मिनट ! बस एक मिनट ! ”

यह कहकर मुझे वहीं छोड़ लपकते हुए वह आगे बढ़ गया । लौटा तो उसके हाथमें कागज़में लिपटा एक पान था । उसे सामने करके कहा—लीजिए ।

मैने चुपचाप पान ले लिया ।

“ सुरती ? ”

मैने कहा—जी नहीं, और कुछ नहीं चाहिए ।

वह मुझे शायद सकुंचित नहीं रखना चाहता था । उसने अपनी बंडीकी जेबमें हाथ डाला और वहाँसे एक डिविया निकालकर उसे खोलकर मेरे सामने पेश करते हुए कहा—
बिनारसी सुरती है, बाबू !

मैने कहा—मैं—

“ (इतने) रुपए सेरवाली है, बाबू, खास बिनारसी दुकानकी । ”

मुझे याद नहीं रहा कि ठीक कितने रुपये सेरवाली वह सुरती थी। जरूर वह सुरती अच्छी ही रही होगी। उसे इन्कार करनेकी लाचारी पर मैं कुछ लज्जित हो आया। मैंने कहा—जी, मैं—

व्यक्तिने सदय भावसे मेरी असमर्थतापर हँस दिया—हैं—हैं—हैं—हैं !

मैं चला आया। आकर देखा कि कपड़ोंका ढेर अपने स्थानसे सरका दिया गया है और नीचे गुदगुदा करनेके लिए कई कपड़े डालकर ऊपर एक नई-सी सुजनीको ठीक-ठीक बिछानेमें बुआ लगी हुई है। मुझे आते देखकर कहा—

“आओ, अब जरा लेट लो।”

मैंने पूछा—तुमने खाना खा लिया है ?

“अभी खाती हूँ।”

“तो खा लो।”

“बस खाती हूँ। तुम यहाँ बैठो तो।”

मैं बिछी सुजनीपर आ बैठा। उन्होंने दूरसे ही दो तकिए मेरे सामने डाल दिये। कहा—लेट न जाओ।

मैंने कहा—लेट जाऊँगा।

इसपर बिना कुछ कहे एक वे अवशिष्ट जूठी थालीको मँजने लगीं। मँजकर फिर उसी थालीमें खाना परोस लेकर मुझे अपनी ओर देखते हुए देखकर बोलीं—आओ, अब साथ दोगे ?

मैंने कहा—मेरा साथ तो तुमने दिया नहीं—

बोलीं—अब तुम साथ नहीं दे सकते ?

मैंने कहा—देख लिया, बुआ, तुम मेरा साथ नहीं चाहती ।

“ तुम्हारे साथके लायक मेरा क्या मुँह है ! ” कहकर वे थाली उठा एक कोनेमें चली गई ।

खा पीकर तभीके तभी बर्तन माँजने लगीं । मैंने कहा—यह पीछे नहीं हो सकता ?

वोलीं—अभी दो मिनटमें सब हुआ जाता है ।

मैं उधरसे आँख मोड़कर, तकिया दबा, करवट लेकर पड़ रहा । उस समय मैं यह भूल गया कि मेरा आनेवाला कल इस आजकी ही भाँति नहीं होनेवाला है, जाने वह कैसा हो; भूल गया कि कुछ देर बीतते न बीतते मुझे इस परिस्थितिसे अपनेको तोड़ लेना है । ऐसा मादूम हो आया कि मैं यहीं-का हूँ, यहाँ ही होनेके लिए हूँ, और इसके इधर-उधर मेरे लिए कुछ भी स्वाभाविक नहीं रह गया है । कहाँ मेरा कालिज है; कहाँ विवाहकी वातचीत; कहाँ माँ और मेरे अपने जीवनके मनसूत्रे ? क्या वे सचमुच कहीं भी हैं ? मानो कहीं कुछ न रहा । भविष्यकी आवश्यकता ही मिट गई । जो है, वही सब है । वह कालके अधीन है, यह तब ज्ञान ही न रहा । ऐसा भी न अनुभव हुआ कि वाद-विवादद्वारा, प्रश्नोत्तरद्वारा, सफ़ाई-तफ़सीलद्वारा भरनेके लिए कोई अंतर भी हमारी परस्परकी स्थितियोंके मध्य बाकी बचा हुआ है । मानो सब कुछ ठीक है और हम दोनोंका यहाँ इस विधि होना भी उस ‘सब ठीक’ का ही भाग है । जो बिना त्रिकाल-भेदके सदा-सर्वदा वर्तमान है, उसीके निर्देशपर मानो मात्र वर्तमान होकर मैं वहाँ था ।

इसी जगनींदीमें सुना—सो गये ?

करवट लेकर देखा—बुआ मेरे विद्यावनके किनारे बरतीपर बैठी है, पृष्ठ रहीं हैं—‘ नींद आ गई थी क्या ? ’

“ नहीं तो—”

“ नहीं आई तो अब जरा नींद ले लो ।”

“ तुम्हें अब कुछ और काम है ? ”

“ काम ? ”

“ कुछ और काम न हो तो—”

“ कामका तो कमी नहीं है । लेकिन वह देखा जायगा । पर तुम—”

“ बुआ, तुम यहीं बैठो । काम आज छोड़ दो ।”

“ छोड़ तो दिया है और बैठो भी हूँ ।”

मेरे मनमें उस समय बहुत-से प्रश्न थे । आज जो बुआकी अवस्था है उसके लिए वे स्वयं जिम्मेदार नहीं हैं, वह बात चित्त पूरी तरह नहीं मान पाता था । फिर भी इस अवस्थामें भी बुआके व्यवहारमें कुछ ऐसी स्वाभाविकता थी कि मेरे लिए संभव न हुआ कि मैं अपने अहंभावमें उनपर करुणा करूँ । फिर क्या करूँ ? मैंने अवश भावसे कहा—

“ बुआ !—”

वे बोलीं—कहो, कहो । रुक क्यों गये ?

मैंने अटककर कहा—मेरी कुछ समझमें नहीं आता है । यह जगह मुझे बुरी मालूम होती है ।

“ जगहको अच्छी कौन कहता है । पर जगह तो है ।

कभी जगह-भर होनेका ही सवाल बड़ा होता है। तुम साफ़ कहो न, प्रमोद, कि क्या तुम्हारी समझमें नहीं आता है ?” कहकर वह जाने किस दृष्टिसे मुझे देख उठी। वह दृष्टि मुझे भली नहीं मालूम हुई।

मैंने कहा—तुम यहीं रहोगी ? इसी जगह ? कबतक रहोगी ?

“अभी तो इसी जगह हूँ। इस कोठरीमें मैं न रहूँगी, कोई और रहेगा। ये कोठरियाँ तो आबाद ही रहेंगी। इनमें रहने लायक आदमी बहुत हैं। और आगेका हाल मैं नहीं जानती। हाँ, समझती हूँ कि ज्यादाह दिन मैं यहाँ नहीं रह पाऊँगी ?”

“कहाँ जाओगी ?”

“कौन जानता है !”

“क्यों जाओगी ?”

उन्होंने स्मित हाससे कहा—

“तुम समझते हो यह आदमी जिसके साथ मैं रह रही हूँ मुझे ज्यादाह दिन रख सकेगा ? नहीं; मैं जानती हूँ एक दिन यह मुझे छोड़कर चला जायगा। तभी इस कोठरीसे मेरे उठनेका भी दिन होगा।”

जिस प्रकृत और स्थिर भावसे वे यह कह रही थीं उससे मैं मानों दवा आ रहा था। मैंने पूछा—तब क्या करोगी ?

“क्या करूँगी, यह मैं अभी क्या जानती हूँ। क्या कोशिश करके भी वह जान सकती हूँ ? पर एक बात जानती हूँ—”

कहते-कहते एकाएक अटककर रुक पड़ीं और वैधी निगाहसे मुझे देख उठीं । मैंने डरते-डरते पूछा—क्या ?

“वेश्यावृत्ति नहीं करने लगूंगी । इसका विश्वास रखो ।”

मैं सुनकर घबरा गया ।

वह कहती रहीं—

“....जिसको तन दिया, उससे पैसा कैसे लिया जा सकता है, यह मेरी समझमें नहीं आता । तन देनेकी ज़रूरत मैं समझ सकती हूँ । तन दे सकूंगी । शायद वह अनिवार्य हो । पर लेना कैसा ? दान स्त्रीका धर्म है । नहीं तो उसका आर क्या धर्म है ? उससे मन मोंगा, जायगा, तन भी मोंगा जायगा । सतीका आदर्श और क्या है ? पर उसकी विक्री—न, न, यह न होगा । अगरचे सोचती हूँ कि—”

वे यह सब मुझे कह रही थीं, ऐसा बिल्कुल प्रतीत नहीं हुआ । मानों अपनी ही कल्पनाओंको उत्तरद्वारा निरुत्तर करना चाहती हों । मैंने कहा—

“बुआ, नाराज़ न होना । लेकिन मैं पूछता हूँ, ऐसी तुम क्यों होगी ? पतिको क्यों छोड़ आई ?”

बुआने यिर भावसे मुझे देखते हुए कहा—

“तुमसे नाराज़ होऊँगी, यह क्या तुम संभव समझते हो ? पतिको मैंने नहीं छोड़ा । उन्होंने ही मुझे छोड़ा है । मैं स्त्री-धर्मको पति-व्रत धर्म ही मानती हूँ । उसका स्वतंत्र धर्म मैं नहीं मानती । क्या पतिव्रताको यह चाहिए कि पति उसे नहीं चाहता तब भी वह अपना भार उसपर डाले रहे ? वह

मुझे नहीं देखना चाहते, यह जानकर मैंने उनकी आँखोंके आगेसे हट जाना स्वीकार कर लिया । उन्होंने कहा—‘मे
तेरा पति नहीं हूँ ।’ तब मैं किस अधिकारसे अपनेको उन-
पर डाले रहती ? पतिव्रताका यह धर्म नहीं है—”

“बुआ । बुआ । यह तुम क्या कह रही हो ? यह सब क्यों हुआ ? ”

“क्यों हुआ, यही तो तुम्हें बतलाती हूँ । व्याहके बाद मैंने बहुत सोचा, बहुत सोचा । सोचकर अंतमें यह पाया कि मैं छल नहीं कर सकती । छल पाप है । हुआ जो हुआ, व्याहताको पतिव्रता होना चाहिए । उसके लिए पहले उसे पतिके प्रति सच्ची होना चाहिए । सच्ची बनकर ही समर्पित हुआ जा सकता है ।—प्रमोद, शीलाके भाईको तुम जानते हो ?—”

इस प्रश्नपर मैं उनको देखता रह गया ।

“उनका एक पत्र आया था । पत्रमें कुछ विशेष नहीं था । यही लिखा था कि ‘मैं अब सिविल सर्जन हूँ । शादी नहीं हुई है, न करूँगा । तुम्हारा विवाह हो गया है, तुम सुखी रहो । मेरे लायक कुछ सेवा हो तो लिख सकती हो ।’ उस पत्रको लेकर ही मेरे मनमें सोच-विचारका चक्र चल रहा था । मैंने जवाबमें लिख दिया कि ‘आपके पत्रके लिए कृतज्ञ हूँ । पर आइंदा आप कोई पत्र न भेजें । मैं सुखी होनेकी कोशिश कर रही हूँ ।’ जवाब देनेसे पहले दोनों पत्रोंका जिक्र तुम्हारे फफासे कर देना जरूरी था ।

सुनकर उन्होंने कहा कि मुझसे कहनेकी कुछ ज़रूरत नहीं है। यही था तो मुझसे शादी क्यों की? कुछ देर बाद उन्होंने कहा कि मैं हरामजादी हूँ। मैंने कोई प्रतिवाद नहीं किया। उस दिनसे तुम्हारे फूफ्फा मुझसे किनारा करते चले गये। मुझे तो अब नाराज होनेका भी अधिकार न था। उन्होंने मेरी परवाह करनी छोड़ दी। मैं इस योग्य थी भी। उनकी परवाहका अधिकार मुझे क्या था? काम करती थी और जो मिलता उससे पेट भरकर पड़ रहती थी। पर मुझे ऐसा लगा कि उनकी आँखोंमें अब भी मैं काँटा हूँ। इसकी वजह भी मुझे टीखी कि मेरी उपस्थिति उनको खटके। यह देखकर मैंने एक रोज़ उनसे जाकर कह दिया कि मुझे आप चाहें तो घरमेंसे दूर कर सकते हैं। उन्होंने कहा—‘हाँ जाओ। अपने मैके चली जाओ।’ मैंने कहा—‘वहाँसे तो मैं कटकर आगई हूँ। आपकी खुशीसे तो मैं वहाँ जा सकती हूँ, आपकी नाराजीमें वहाँ जाना मेरा धर्म नहीं है।’ उन्होंने कहा कि ‘फिर जो चाहे कर, जहाँ चाहे जा।’ मैंने पूछा—‘कहाँ जाऊँ, क्या करूँ?’ उन्होंने कहा कि ‘जान न खा, चल दूर हो।’ उसके बाद फिर कुछ दिन बीत गये। मैं उनके राहकी बाधा थी। एक दिन उन्होंने एकदम आकर कहा—‘चल, निकल यहाँसे।’ मैंने आज्ञा न माननेकी जिद नहीं की। मुझे वहीं शहरमें एक दूर कोठरीमें लाकर वह खुद ही छोड़ गये। साथकी ज़रूरी चीज़-वस्तु भी उन्होंने लाकर दे दी थी। यह कुल कहानी है। ”

मैं बुआकी तरफ़ देखता रहा। उनके चेहरेपर कोई भैल नहीं दीखा। मुझे हैरानी थी। मानों जो हुआ, उसकी शिकायत उन्हें नहीं है। मैंने बड़े क्लेशसे कहा—तुम घर क्यों नहीं आ गई, बुआ? इस आदमीके साथ बसनेके लिए यहाँ क्यों चली आई?

बोलीं—प्रमोद, मैं तुम्हें कैसे बताऊँ। मैं घर नहीं आ सकती थी। एक बार घर आकर मैं समझ गई थी कि वैसे मैके जाना ठीक नहीं है। खी जबतक सुसरालकी है, तभी तक मैकेकी है, सुसरालसे दूटी, तब मैकेसे तो आप ही मै दूट गई थी।

मैं विस्मयसे उनकी ओर देखता रहा। उनके शब्दोंका कुछ विशेष अर्थ मुझे नहीं मिलता था, इससे मुझे रोष भी आया। मैंने कहा—यह क्या कह रही हो? तुम घर नहीं जा सकती थीं, यहाँ आकर एक अन्य पुरुषके साथ बस सकती थीं—यह कैसी बात कहती हो?

“घर तो, हाँ, नहीं जा सकती थी। एक अन्य पुरुषके साथ यहाँ बसनेकी बात मैं नहीं जानती। लेकिन वह पुरुष अन्य क्यों है?”

“अन्य क्यों है।”

“हाँ, अन्य तो वह नहीं है। यहाँ क्या अन्य भावसे मैं उससे व्यवहार करती दीखती हूँ?”

“वह पति है?”

“पति!—मैं नहीं जानती। लेकिन मेरा अस्तित्व मेरे

लिए नहीं है। उस समय तो बेगन में उस पुरुषकी सेवाके लिए हूँ।”

“ सेवा ? ”

“ हाँ, सेवा क्यों नहीं ? मैं जब वहाँ जोरूमिमें अकेली थी, तब मरी क्यों नहीं, क्या यह जानते हो ? मैंने सोचा था और चाहा था कि मैं मर ही जाऊँगी। ऐसे जीनेमें क्या है। लेकिन एकाएक मुझको पता लग आया कि जिसने जीवन दिया है, मौत भी उसीकी दी हुई मैं ले सकती हूँ। अन्यथा अपने अहंकारके बग मरनेवाली मैं कौन होती हूँ। भूखसे मग्ना पड़े तो मैं मर भी जाऊ, पर नाच-बिचारकर अपमान कैसे कर सकती हूँ। ऐसे समय भूखके तीसरे रोज इसी आदमीने खतरा उठाकर मुझे पूछा था। उस आदमीके वो पूछनेमें क्या बुराई थी ? शायद मेरे रूपका लोभ तो उसे था, लेकिन उसके लिए मैं उसे दोष क्या देती। वह बिनाकी तरफ़ अया होकर मेरे पास आया। उसका अपना परिवार था, मेली-जोली थे। उनकी ओरसे लापरवाह होकर ताने और धमकी सहकर, पहले चोरी फिर उजागर, उसने मुझे सहायता दी। उसकी चोरामें मेरा भाग न था। और सहायता और कुछ नहीं—यही कि कोडला ला दिया, सीधा लाकर रख दिया, और दारसकी दो-एक बातें कह दी। मैंने मौतसे तो मुँह मोड़ ही लिया था। पर उधरसे मुँह मोड़कर जीनेके संकल्पकी ओर उन्मुख हुई, तभी सामने इस आदमीकी सहायता आ गई। उससे मुँह मोड़ती तो किस

न्यायपर ? मैंने उस सहायताको कृतज्ञताके साथ श्रंगीकार कर लिया । प्रमोद, तुमने उरो देखा तो है । मेरे रूपका लोभ उसपर चढ़ता गया । वह नशा ही आया । मुझे उस समय उसपर बड़ी करुणा आई । प्रमोद, तुम्हें कैसे बताऊँ, तुम बालक हो । लेकिन इस अभागे आदमीका मद उसपर इतना सवार हो गया कि मैं नहीं कह सकती । अपने परिवारको वह भूल गया, अपने कारोबारको भी भूल गया । मेरे लिए सब स्वाहा करनेपर तुल पड़ा । एक रोज़ मुझसे बोला—‘ चलो, भाग चलें । ’ मैं उसे बोध देती तो क्या वह सुनता ? गर्म तबेपर जैसे जलकी बूँद चटककर छिटक रहती है वैसे ही मेरी ओरसे कोई ठंडा बोध तब स्फोट ही पैदा करता । मैंने उस बेचारेसे पूछा—‘ कहाँ चलोगे ? ’ बोला—‘ जहाँ कहो चलूँ । मेरी प्यारी, तुम मेरी सर्वस्व हो । ’ जैसी मैं उसकी प्यारी थी और प्यारी हूँ, वह मैं ही जानती हूँ । उसे अपने मोहका ही प्यार था । लेकिन उसे इसका पता न था । उस समयके मेरे जीकी हालत मत पूछो । ऐसा त्रास मैंने बहुत कम पाया है । उसका प्रेम स्वीकार करनेकी कल्पना भी दुर्विषय थी । पर उसका दायित्व क्या मुझपर न था ? और यह भी ठीक है कि उस समय उसका सर्वस्व मैं ही थी । मैं उसके हाथसे निकलती तो वह अनर्थ ही कर बैठता । अपनेको मार लेता, या शक्ति होती तो मुझे मार देता । सच कहती हूँ, प्रमोद, कि उस समय उस आदमीपर मुझे इतनी करुणा आई कि मैं ही जानती हूँ । मैं उसके इस भ्रमको किसी भाँति

न तोड़ सकी कि मैं उसकी हूँ, उसपर मुग्ध हूँ। ऐसा करना निर्दयता होती। मेरे पास जो कुछ बचा-खुचा था, मैंने उसे साँप दिया। हजार-बारह सौसे ज्यादाहका वह माल न होगा। सब कुछ उसे देकर इस जगहका नाम मैंने सुझाया और कहा—‘वह दूर जगह है, वहीं चलो।’ जानते हो प्रमोद, इस जगहका नाम क्यों बताया? इस लिए कि मैं जानती थी कि जगह तुम्हारे पास है और एक न एक रोज़ मैं तुम्हें जरूर देख पाऊँगी।”

मैं बुआको देखता रह गया। मेरे भीतर जाने कैसी उथल-पुथल मची थी। मैं नहीं जानता था कि मैं क्या चाहता हूँ—इस सामने बैठी प्रगल्भ नारीको घृणा करना चाहता हूँ, या उसके प्रति कृतज्ञ होना चाहता हूँ। वह नारी अति निर्मम स्नेह-भावसे मुझे देखती रही, कहती रही—

“....लेकिन यह स्वप्नमें भी न सोचा था कि खोजते हुए तुम्हीं मुझे पा लोगे। सोचा यह था कि जब चित्त न मानेगा तब अपने प्रयत्नोंसे दूरसे ही तुम्हें देखकर जी भर लिया करूँगी। प्रमोद, तुम मुझे घृणा कर सकते हो। लेकिन फिर भी तो मैं तुम्हारी बुआ हूँ....”

मैं उस काल अत्यंत अवश हो आया। जी हुआ कि यहाँसे भाग सकूँ तो भाग जाऊँ। लेकिन जकड़ा बैठा रह गया। मनपर तब बहुत बोझ पड़ रहा था। न क्रोधमें चिल्लाया जाता था, न स्नेहके आश्रयमें रोया जाता था।

“...प्रमोद, मेरी अवस्था देखते तो हो। तुमसे छिपा-
ऊँगी क्या ? यह गर्भ इसी आदमीका है।....”

कहकर ऐसे ठंडे निर्दय भावसे उन्होंने मुझे देखा कि उस
निगाहको न सँभालकर मैंने अपना मुँह तकियेमे छिपा लिया।

“....तुमको लाज आती है। लाजकी बात ही है।
लेकिन मैं जानती हूँ कि इस आदमीको अब मुझसे विरक्ति हो
रही है और अपने परिवारकी याद आ रही है। जब सबको
छोड़कर मुझे साथ ले चलनेको उतावला था, तब भी मैं
जानती थी कि थोड़े दिनों बाद इसे लौटकर अपने परिवारके
बीच आ जाना होगा। जानती थी कि इसी अवश अनुरक्तिमें-
से एक दिन प्रबल विरक्तिका भाव फूटेगा। जानती थी, इसी
लिए मैं उसे साथ ले आई। वह वैरुखीका भाव अब शुरू हो
गया है। उसे अब चले ही जाना चाहिए। परिवार वहाँ अकेला
है। मुझे वह नहीं फेल सकता। मेरी कोशिश है कि वह मुझसे
उकता जाय। अपनी अवस्था मैं जानती हूँ। पेटमें बालक
है। लेकिन ऐसी अवस्थामे भी स्वार्थकी बात सोचना ठीक
नहीं है। मैं उसे उसके परिवारमें लौटा कर ही मानूँगी। अब
समय आया है कि उसे इस बातकी अकल आ जायगी। अब
उसका मोह टूट गया है। वह जान गया है कि मैं उसकी
सर्वस्व नहीं हूँ, मैं बस एक बदजात व्यभिचारिणी हूँ—”

तकिएमें मुँह दबाए मैं यह सब सुनता रहा। इतनी वेदना
मैंने शायद ही कभी पाई हो। मेरा मन भीतर ही भीतर
मसोस मसोस कर रह जाता था और मुझे कुछ भी कल न

मिलता था। एक आँसू तक भी उठकर आँखोंमें नहीं आ सका, तकलीफ इतनी अधिक थी।

“ मैं कहती हूँ, महीने दो महीनेके भीतर यह आदमी यहाँसे चल देगा और मेरे पास एक भी पैसा नहीं छोड़ेगा। वह जानता है कि पैसेकी दुनिया है। इसलिए सातसौ आठ-सौ जो रुपया हाथ बचेगा, वह आड़े दिन काम ही आयगा। वह यह भी जानता है कि एक फ़ाहिशा औरत जी चाहे जैसे जी लेगी, पैसा उसके पास छोड़नेकी कोई ज़रूरत नहीं है। मैं यह सब जानती हूँ। जानती हूँ, इसीसे फ़िक्र नहीं करना चाहती।....पर फिर इस पेटके बालकका क्या होगा ?....”

यह कहनेके साथ उन्होंने एक भरी सॉस ली जिससे मेरा मनोसा-हुआ मन एक साथ कॉपकर भीग गया।

“....क्या होगा ? भगवान् ही जानता है, क्या होगा। मुझे और कोई दूसरा आसरा नहीं है। पर भगवान् सर्वान्तर्यामी हैं, सर्व शक्तिमान् हैं। मुझे कोई और आसरा क्यों चाहिए ?—”

इसके बाद कुछ देर चुप्पी रही। मैं वैसे ही तकिएमें मुँह दावे आँधा पड़ा रहा। फिर बुआ बोली—

“ प्रमोद, इसीसे कहती हूँ कि जब तक पास है तब तक वह पुरुष अन्य नहीं है। मेरा सब कुछ उसका है। उसकी सेवामें मैं त्रुटि नहीं कर सकती। पतिव्रत धर्म यही तो कहता है !—”

इसके बाद बहुत देरतक कोई कुछ नहीं बोला। चुप, सुन्न, मानों सब कुछ ठहर गया। मानों समय जम कर खड़ी

शिला हो गया । नीरवता ऐसी हो आई कि हमारे साँस ही हमें हाय-हाय शोर करते हुए जान पड़ने लगे । ऐसे कितना समय बीता । त्रास दुर्बह हो गया । तब उस बर्फीली चट्टान-सी जमी हुई चुप्पीको तोड़कर बुझाने कहा—

“ प्रमोद, तुम सोये तो अवश्य नहीं हो । और मैं जाने क्या क्या बकती रही । कहनी-अनकहनी जाने क्या क्या कह गई हूँ । दुनियामें मेरे एक तुम हो कि जिससे दुराव मुझसे नहीं रखा जायगा । अच्छा, अब तुम आराम करो । मैं ज़रा पड़ौसके एक बालकको देख आऊँ । ”

मैं पड़ा ही रहा, बोला नहीं । और बुझा चली गई ।

६

मैं वहाँ सो नहीं सका । मेरा मन बहुत घबराने लगा । जो कहानी सुनी है उसे कैसे छँ, कैसे भेछँ ? मनसे वह सँभाली नहीं जाती थी । इलाज यही था कि मैं उससे बचकर चला जाऊँ । चला जाऊँ उसी अपनी दुनियामे जहाँ वस्तुओंका मान बँधा हुआ है और कोई झमेला नहीं है । जहाँ रास्ता बना-बनाया है और खुदको खोजनेकी ज़रूरत नहीं है । जिज्ञासा जहाँ शान्त है और प्रश्न अवज्ञाका द्योतक है ।

इन बुझाका मैं क्या बनाऊँ ? उनकी इस कोठरीमें मैं अपना ही क्या बनाऊँ ? यहाँ सब कुँछ उलट-पुलट गया मालूम होता है । पति-गृहको छोड़कर यहाँ गंदे व्यभिचारमे रहनेवाली नारी पति-धर्मकी बात करती है और उसको सुनता हुआ एक पढ़ा-लिखा मुझ जैसा समझदार युवक उस नारीको

लाञ्छित नहीं करता बल्कि उसके प्रति और खिंचकर रह जाता है ! ओः असह्य है !

यह एकदम ग़लत है। बिल्कुल ग़लत है। मैं चला जाऊँगा। मैं नहीं रूँगा यहाँ। बुआ घर नहीं चलेंगी। देख लिया, मैं उन्हें घर नहीं ले जा सकता हूँ। मैं उन्हें उनकी राहसे क्या एक पग भी इधर-उधर कर सकूँगा ? मुझे नहीं मालूम। मैं शायद कुछ नहीं कर सकूँगा। वह मुझे कुछ नहीं करने देंगी। उनकी मति उलट गई है। वह नहीं सुधरना चाहती। तब मैं उन्हें क्या सुवाँँ ? और तो और, मुझे इसीमें शंका होने लगी कि सुधारकी जरूरत उनमें है कि मुझमें है। यह शंका असह्य ही थी। मैं बी० ए० में पढ़ने-वाला युवक उच्च विचारोंमें रहता था, उच्चताकी तरफ़ देखता था। मैं अपने महत्त्वसे भरा था। उस महत्त्वसे कुछ इधर-उधर, जिसे निचाई समझना हूँ वहाँ भी, कुछ सचाई है, यह नहीं जानना चाहता था। जानकर सहना नहीं चाहता था। मुझको बड़ा जो बनना था।

मैं लेटे-लेटे सहसा उठा। अपने नीचे बिछे हुए कपड़ोंको एक-एक कर उठाया और तह करके चिनकर रख दिया। सोचने लगा कि इस कमरेकी व्यवस्थाको संपूर्ण बनानेके लिए क्या मैं कुछ और नहीं कर सकता हूँ। पर ऐसा कोई काम नहीं सूझा। कमरेकी सब चीज़ें ठीक अपनी अपनी जगह थीं। साफ़ कमरेको एक बार और भी अपनी ओरसे झाड़ू देकर साफ़ कर जाऊँ, सोचा, इसमें कुछ हरज नहीं है। जूता पहनकर और उसके

तस्मे बाँधकर बुहारी ले मैं यही काम करने लगा । बिल्कुल चुपचाप वहाँसे चले जानेका साहस नहीं होता था । जीकी कृतज्ञता कुछ तो व्यय हो, नहीं बहुत भारी माझम होती थी ।

लेकिन भाइ देकर चुरु न पाया था कि बुआ आ पहुँचीं । मैं बहुत लज्जित हो गया और जल्दीमें भाइ हाथसे अलग कर ऐसा खड़ा हो गया कि जैसे मैं बिल्कुल निर्दोष हूँ, ग़लतीसे अभियुक्तके कटघरेमें खड़ा हूँ ।

“ प्रमोद, यह तुम्हे क्या सूझ गया है ! क्या अभी चले जा रहे हो ? सोये नहीं ? ”

“ हाँ, अब जाना चाहिए । ”

“ जाना तो चाहिए, पर कमरेमें ऐसा कूड़ा तो बहुत नहीं माझम होला है कि बुहारीकी ज़रूरत हो । और क्यों भाई, क्यों अब जाना ही चाहिए ? ”

“ घरपर मँने बुलाया है । मैंने कहा था न, कि ब्याहकी बातचीत है । सो जाना है । ”

“ ब्याहकी बातचीत ? ”

“ मैंने कहा तो था—”

“ मैंने सुना न होगा । तो ब्याहकी बातचीत चल रही है । तेरे ब्याहमें तो मैं भी शरीक होना चाहती थी—”

“ चाहती थी के क्या माने ? जरूर शरीक होओगी । ”

उन्होंने लज्जित वाणीमे कहा—

“ हाँ रे, जरूर शरीक होऊँगी । मैंने करम जो ऐसे किये हैं ।—बातचीत पक्की हो गई ? ”

“ मेरे बिना पक्की कैसे हो जायगी, बुआ, और मैं अभी व्याह नहीं करूँगा । ”

उन्होंने बात आगे न बढ़ने दी । कहा—

“ कब जायगा ? अभी ? गाड़ी अभी जाती है ? ”

इस बातका उत्तर न देकर मैंने पूछा—

“ बुआ, सच, तुम व्याहमें भी न आओगी ? ”

“ कैसे आऊँगी ? ”

“ कैसे क्या होता है ! आनेकी तरहसे आओगी । मैं समाजकी बिल्कुल परवाह नहीं करता । ”

“ तुम परवाह नहीं करो, भाई, तो चल सकता है । लेकिन मैं तो ऐसा नहीं कर सकती कि परवाह न करूँ । मैं समाजको तोड़ना-फोड़ना नहीं चाहती हूँ । समाज टूटी कि फिर हम किसके भीतर वनेंगे ? या कि किसके भीतर बिगड़ेंगे ? इस लिए मैं इतना ही कर सकती हूँ कि समाजसे अलग होकर उसकी मंगलाकांक्षामें खुद ही टूटती रहूँ ।—क्या कभी सोचा था कि तुम्हारा व्याह होगा और मैं अलग मन मसोसकर रह जाऊँगी । लेकिन चलो, जो होना है होगा ही । ”

मैं इस बातचीतके बीचमें कपड़ोंके चिने हुए ढेरपर ही आ बैठा था । मैंने वहाँसे कहा—तो मुझे भी तुम्हारे पास आनेकी ज़रूरत नहीं है । यही न ?

बुआने अकुंठित भावसे कहा—

“ हाँ, यह भी । लेकिन ज़रूरतसे जो काम होते हैं उनकी मर्यादाओंको लोंघकर कभी बिल्कुल ग़ैरज़रूरी बातें

भी हो पड़ती हैं। यह तुम्हारा आना ही क्या बिल्कुल वैसी ही गैरज़रूरी बात नहीं है ? लेकिन फिर भी कोई ज़रूरत उसको नहीं रोक सकी और तुम यहाँ आ ही पड़े। ऐसे ही—”

मैंने बीचमें बात काटकर कहा—अब न आऊँगा।

“नहीं आना चाहिए। मैं तो तुमको अपनी ओरसे भी यही समझानेवाली थी। जो समाजमें हैं, समाजकी प्रतिष्ठा कायम रखनेका ज़िम्मा भी उनपर है। वह उनका कर्तव्य है। जो उसके उच्छिष्ट हैं, या उच्छिष्ट बनना पसंद कर सकते हैं, उन्हींको जीवनके साथ नये प्रयोग करनेकी छूट हो सकती है। प्रमोद, यह बात तो ठीक है कि सत्यको सदा नये प्रयोगोंकी अपेक्षा है। लेकिन उन प्रयोगोंमें उन्हींको पड़ना और डालना चाहिए जिनकी जानकी अधिक समाज-दर नहीं रह गई है।—”

मैं अंडरग्रेजुएट उनकी कुछ भी बात नहीं समझ सका। आज वे बातें मुझे याद आती हैं। और मुझे निश्चय हो गया है कि सच्चमुच जो शास्त्रसे नहीं मिलता वह—ज्ञान-आत्म-व्यथामेंसे मिल जाता है। नहीं तो इतने गंभीर जीवन-तथ्यको इस स्वाभाविकतासे वशमें करने और व्यक्त करनेके बुआके अधिकारका और भेद क्या हो सकता है। मैंने उस समय कहा था—

“बुआ, मैं अब नहीं आऊँगा। मैं सहायताका मन लेकर आया था। देखता हूँ, सहायता कोई नहीं लेता है। वस, मैं अब नहीं आऊँगा।”

मैं अब सोचता हूँ कि वह कहने योग्य हीन-बुद्धि मेरी तब किस भाँति हो गई थी। इसके जवाबमें बुआने जो कहा था मुझे आज खूब याद आता है। उन्होंने कहा था—

“ प्रमोद, सहायताकी मैं भूखी नहीं हूँ क्या ? तुम्हसे ही वह सहायता न लूँगी तो किससे लूँगी। लेकिन सहायताका हाथ देकर क्या मुझे यहाँसे उठाकर ऊँचे वर्गमें जा बिठानेकी इच्छा है ? तो भाई, मुझे माफ़ कर दो। वैसी मेरी अभिलाषा नहीं है। सहायता मुझे इस लिए चाहिए कि मेरा मन पक्का होता रहे कि कोई मुझे कुचले, तो भी मैं कुचली न जाऊँ, और इतनी जीवित रहूँ कि उसके पापके बोझको भी ले लूँ और सबके लिए ज़माकी प्रार्थना करूँ। प्रतिष्ठा मुझे क्यों चाहिए। मुझे तो जो मिलता है उसीके भीतर सान्त्वना पानेकी शक्ति चाहिए।—”

उस समय तो मैं उनके शब्दोंको कुछ नहीं समझा था। और मैंने जवाबमें वैसेसे कहा था—भे जाऊँ ?

उन्होंने कहा—हाँ, जाना हो तो जाओ और सुखी रहो।

जाते-जाते मैंने मनको बहुत कड़ा करके कहा—कुछ ज़रूरत हो तो लिखना।

बुआने हँसकर कहा—हाँ लिखूँगी।

मैं खड़ा हो गया था, कोट ब्रॉहोमें डाल लिया था, हैट हाथमें था। इस भाँति, चलनेको उद्यत, मैं उनके सामने खड़ा हुआ अपनेको भयंकर असमंजसमें अनुभव कर रहा था। झुककर उनके पैर छू दूँ ? हाँ, ज़रूर छूने चाहिए।

पर मुझसे कुछ वन नहीं पड़ रहा था । उस समय मैने, मानों देर हो रही हो इस भावसे, कलाईमें बँधी घड़ीको सामने करके देखा और ज़रा माथा झुका कर कहा—

“ अच्छा बुआ, प्रणाम । ”

और कहते ही मुड़कर चल दिया ।

बुआने कहा—‘ सुखी रहो, भैया । ’ लेकिन उस आशीर्वादका स्नेह और कंपन कानोंकी राह प्राप्त करके मेरी गति और तीव्र हो गई, मानो रुका कहीं कि जाने कौन मुझे पकड़ लेगा । तेज़ क़दम बढ़ाता हुआ बाहर आया और सीधी स्टेशनकी राह पकड़ ली । बाहर वह कोइलेकी दुकान दीखी, जहाँ वह व्यक्ति तराजूकी डंडीपर हाथ रखे हुए ग्राहकको कोइला तौल रहा था । इस भयसे कि वह मुझे देख न ले, झटपट नीचे आँख डालकर मैं और तेज़ चालसे बढ़ता चला गया, बढ़ता ही चला गया ।

७

घरपर मँने पूछा—कहाँ रह गये थे ? सतीश कहता था कि तुम एक रोज़ उससे पहले कालिजसे चल दिये थे ।

मैने कहा—बुआको खोजता हुआ रह गया था । वे उस नगरमे रहती हैं ।

जैसे किसीने उन्हें डंक मारा हो, मँने कहा—कौ-न !

“ बुआ । मैं उनसे मिलकर आ रहा हूँ । ”

“ क्या-आ ! ”

“ माँ, वे यहाँ नहीं आ सकतीं ? ”

मौने ज़ोरसे कहा—

“ सुन प्रमोद, तेरी बुद्धि अब कोई नहीं है, मेरे सामने उसका नाम न लेना । ”

“लेकिन सुनती हो, अम्मा ” मैंने कहा—“ मैं उनको भूल नहीं सकता हूँ । ”

मौने कहा—तू जो चाहे कर । पर ख़बरदार जो मुझसे उसकी बात कही—कुल-बोरन कहींकी !

बुद्धि के नामपर मौके भीतर जो कष्ट था उसका अनुमान लगाना मुश्किल है । वह कष्ट ही उनके शब्दोंमें प्रकट हो रहा था । लेकिन तब मैं यह नहीं समझ सका था और उसी बातको लेकर मौसे मनमें कुछ दूरी बना बैठा था ।

यह कहना अनावश्यक है कि विवाहका जो प्रस्ताव उस समय उठाया गया था, उसे मैं स्वीकार न कर सका । मैं नाराज़ हो गई । लेकिन मैंने देख लिया कि दुनियामें मैं अकेला हूँ, कोई किसीका नहीं है, नाते-रिस्ते झमेले हैं ।

ज़िन्दगी बहती चली गई । बी० ए० का इम्तिहान नज़दीक था और मैं पोजीशन लाना चाहता था । बुद्धि की यादको मनमें गहरी बैठानेसे बचना चाहता था । क्या फ़ायदा ? फिर भी वह याद गहरेमें तो थी ही । उसके कारण इस दुनियाका बहुत कुछ व्यर्थ और निकम्मा मालूम होता था । सुख नीरस जान पड़ता और दुख सार । मनकी महत्वाकांक्षा कुछ अपनेमें बुझती-सी थी और आपसी सद्भाव जिससे ज़िन्दगीमें तेज़ी आती है हल्की और उपहास्य मालूम होती थी । पर मैं

मनकी इस हालतमें पतवार छोड़ अपनेको बहने देना नहीं चाहता था ।

....वहाँ क्या हुआ होगा ? क्यों जी, वह आदमी चला गया होगा ? फिर क्या हुआ होगा ?—ओह, कुछ भी हो । मैं इसमें क्या कर सकता हूँ ? क्या मैं कुछ भी कर सकता हूँ ?

मनमें एक गाँठ-सी पड़ती जाती थी । वह न खुलती थी, न घुलती थी । बल्कि, कुछ करो, वह और उलझती और कसती ही जाती थी । जी होता था, कुछ होना चाहिए, कुछ करना चाहिए । कहीं कुछ गड़बड़ है । कहीं क्यों, सब गड़बड़ ही गड़बड़ है । सृष्टि गलत है । समाज गलत है । जीवन ही हमारा गलत है । सारा चक्कर यह जेटपँटाग है । इसमें तर्क नहीं है, संगति नहीं है, कुछ नहीं है । इससे ज़रूर कुछ होना होगा, ज़रूर कुछ करना होगा । पर क्या-आ ? वह क्या है जो भवितव्य है और जो कर्तव्य है ?

कोई बात पकड़े न मिलती थी और मन घुट-घुटकर रह जाता था । इसीमें अपने साथियोंसे मेरा मिलना-जुलना बहुत कम हो गया था । वे मुझे चिढ़ाने लगे थे । पर उनका चिढ़ाना मुझे छूता भी न था । यह खयाल तो चेतनामें बँधा था, बिखरा नहीं था, कि इम्तिहान होना है, उसमें नामवरीके साथ पास होना है और आगे बढ़ना है । पर जीवनकी सामाजिकताको निवाहनेकी ओर मनकी चिंता मंद हो गई थी । वह प्रवृत्ति ही सूख गई थी । कम या बिल्कुल न मिलने-जुलनेसे, हँसी-विनोद खेल-